P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-4* ISSUE-1* (Part-1) April- 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

# वैदिक संस्कृत के भाषा–व्याकरण पर एक दृष्टि

**कौमुदी श्रीवास्तव**
एसोसिएट प्रोफेसर,
संस्कृत विभाग,
राजर्षि टण्डन महिला महाविद्यालय,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

**सारांश**

वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इसलिए उनकी भाषा अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि वेद संस्कृत में ही रचे गये हैं तथापि सर्वाधिक प्राचीन वैदिक संस्कृत और परवर्ती लौकिक संस्कृत के बीच पर्याप्त भिन्नरूपताएँ हैं। पाणिनि, पतञ्जलि और कात्यायन ने अपने व्याकरण–ग्रन्थों में दोनों को नियमानुशासित किया है। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के शब्दरूपों, प्रकृतिप्रत्ययों, सन्धिसमासादि रूपों तथा क्रियापदों के स्वरूपों में जो पर्याप्त अन्तर देखने को मिलते हैं उन्हें प्रस्तुत शोध–पत्र में सूक्ष्मता के साथ विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। वैयाकरणों ने वैदिक संस्कृत के शब्दरूपवैचित्र्य का अनुशासन करने में तत्परता दिखायी है। शब्दों के परिवर्तित रूपों के विकल्पों के अतिरिक्त और जाने कितने शब्दरूप परिवर्तनों के विकल्प वैदिक भाषा में देखने को मिलते हैं। वैदिक भाषा में शब्दरूपादि के सारे अन्तर विकल्प से ही उपलब्ध हैं। ये नित्य नहीं है अर्थात् इनके अतिरिक्त, लौकिक संस्कृत वाले शब्दरूपों का भी वैदिक भाषा में अनेकशः प्रयोग होता रहा है। इन विकल्पित शब्दरूपों के उपयोग से वैदिक भाषा अधिक लचीली और उदार प्रकृतिक है। स्वरों का उपयोग वैदिक भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। स्वरों के द्वारा वैदिक भाषा के शब्दों का अर्थ सर्वथा निश्चित रूप से जाना जा सकता है। वैदिक ऋचाओं में मात्रिक छन्दों का सर्वथा अभाव है। उनमें केवल थोड़े–से वर्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ है।

**मुख्य शब्द :** स्वरित, प्रचय, निचृति, भुरिक्, निघात, प्रश्लिष्ट सन्धि, क्षैप्रसन्धि, अभिनिहित सन्धि, उदात्त, अनुदात्त, कम्प।

**प्रस्तावना**

ऋग्वेदादि चारों वेदों की भाषा 'संस्कृत' ही है। किन्तु लौकिक संस्कृत से अपेक्षाकृत बहुत पुरानी होने के कारण उसके शब्दरूपों, प्रकृतिप्रत्ययों, सन्धिसमासादिजन्य रूपों तथा क्रियापदों के स्वरूपों में पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है। कालक्रम में व्यवधान के कारण ये अन्तर प्रत्येक भाषा में स्वाभाविक होते हैं। उदाहरणार्थ तुलसीदास, कबीर आदि पुराने हिन्दी कवियों के द्वारा प्रयुक्त शब्दादिरूप पन्त–प्रसाद–निराला इत्यादि वर्तमानकालिक हिन्दी कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दादि रूपों से पर्याप्त भिन्न ही हैं, तथापि हैं ये दोनों प्रकार की भाषाएँ हिन्दी ही। ठीक इसी तरह वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत भाषाएँ भी अनेक भिन्नरूपताओं के होने पर भी हैं 'संस्कृत' ही। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ने अपने व्याकरण–शास्त्र में लौकिक और वैदिक – दोनों प्रकार की 'संस्कृत' को नियमानुशासित किया है। पाणिनि आदि ने इन नयी और पुरानी दोनों प्रकार की संस्कृत में समान रूप से प्रयुक्त नियमों का निर्देश करके केवल पुरानी संस्कृत अर्थात् वैदिक संस्कृत में ही प्रयुक्त नियमों को अलग से निर्देशित कर दिया है। पाणिनि इस प्राचीन संस्कृत भाषा को छन्दस् और लौकिक संस्कृत भाषा को 'भाषा' कहते हैं। ''छन्दसि बहुलम्'', ''छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'' और ''छन्दसि परेऽपि'' तथा ''छन्दस्युभयथा'' इत्यादि सूत्रों से 'छन्दस्' पद वैदिक भाषा की प्रतीति कराता है। वार्तिककार भी 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इत्यादि वार्तिकों में वैदिक भाषा को 'छन्दस्' की संज्ञा देते प्रतीत होते हैं। ''भाषायां सद्वसः श्रुवः'' इत्यादि सूत्रों तथा ''प्रत्यये भाषायां नित्यम्'' इत्यादि वार्तिकों में लौकिक संस्कृत को 'भाषा' कहा गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में लगभग 262 सूत्र केवल वैदिक संस्कृत के शब्दरूपवैचित्र्य का व्याख्यान करते हैं। इसी तरह कात्यायनकृत 35 वार्तिक भी वैदिक संस्कृत के शब्दरूपवैचित्र्य का अनुशासन करने में तत्पर हैं। इन भाषायी विविधताओं का दिङ्मात्रनिर्देश नीचे किया जा रहा है :–

वैदिक भाषा में भी लौकिक संस्कृत के ही समान माहेश्वरसूत्रों में गिनाये गये सारे वर्णों का उपयोग हुआ है। सारे व्यञ्जन और स्वर उसमें भी

प्रयुक्त होते हैं। उच्चारण ध्वनि की दृष्टि से दो स्वरों के बीच में आने वाली 'ड्' ध्वनि 'ळ्' और 'ढ्' ध्वनि 'ळह्' हो जाती है। उदाहरण के लिए 'ईळे' और 'दृळ्हा' शब्दों की ध्वनियाँ देखी जा सकती हैं। इसी प्रकार वैदिक भाषा में 'पद्भिः' के स्थान पर कभी–कभी 'पड्भिः' रूप देखने को मिलता है।[1]

उपसर्गों का प्रयोग धातुओं के पूर्व के अतिरिक्त कभी–कभी पश्चात् भी होता है।[2] इतना ही नहीं कभी–कभी उपसर्ग और धातुओं के बीच में पर्याप्त व्यवधान भी होता है जैसे–''आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः''।[3]

संज्ञादि शब्दरूपों में षष्ठी विभक्ति के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति और कभी–कभी चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का भी प्रयोग होता है। अवर्णान्त पुंल्लिङ्ग संज्ञादि शब्दों के प्रथमाबहुवचन में 'असुक्' का आगम भी विकल्प से होता है जैसे देवाः, देवासः।[4] 'क्त्वा' प्रत्ययान्त शब्दों में कभी–कभी विकल्प से 'ईनम्' अन्तादेश भी हो जाता है जैसे 'इष्ट्वा' के स्थान पर ''इष्ट्वीनम् देवम्''[5] कभी–कभी क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द में 'यक्' का आगम हो जाता है जैसे–''दिवं सुपर्णो गत्वाय।''[6] वैदिक भाषा में 'शिरः' शब्द का वैकल्पिक 'शीर्षन्' हो जाता है जैसे – ''शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतः।''[7]

कभी–कभी अन्य विभक्तियों के स्थान पर 'सु' विभक्ति जैसे ''ऋजवः सन्तुपन्थाः'' और कभी विभक्ति का लोप जैसे–''परमे व्योमन्'' कभी विभक्ति के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ, जैसे धीती, मती, सुष्टुती इत्यादि हो जाता है। कभी द्वितीया एकवचन की ''औ'' विभक्ति के स्थान पर 'आ' का दीर्घ जैसे अश्विनौ के स्थान पर 'अश्विना' हो जाता है। कभी चतुर्थी बहुवचन के स्थान पर 'शे' का आदेश जैसे ''अस्मे इन्द्राबृहस्पती'' में अस्मभ्यम् के स्थान पर 'अस्मे' हो गया है। कभी 'उरुणा', 'धृष्णुना' इत्यादि तृतीया एकवचनान्त के स्थान पर 'या' आदेश होकर 'उरुया', 'धृष्णुया' इत्यादि शब्द बन जाते हैं। इसी प्रकार कभी–कभी सप्तमी एकवचन के स्थान पर 'डा' आदेश होकर 'नाभौ' के स्थान पर ''**नाभा** पृथिव्याः'' इत्यादि में 'नाभा' रूप बन गया है। कभी 'आङ्' को 'ड्या' आदेश होने से ''अनुष्ठ्योच्यावयतात्'' इत्यादि स्थलों में 'अनुष्ठ्या' इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं। कभी 'याच्' आदेश होने से 'साधु' शब्दरूप का 'साधुया' रूप प्रयुक्त होता है। कभी 'वसन्ते' इत्यादि प्रयोगों के स्थान पर 'आल्' आदेश होकर ''वसन्ता यजेत''–इत्यादि वाक्य में 'वसन्ता' रूप बना हुआ है।[8]

कभी–कभी सोपसर्ग धातुओं में 'क्त्वा' प्रत्यय लगने पर भी 'ल्यप्' न लगकर 'क्त्वा' ही लगता है और 'परिधापयित्वा' इत्यादि शब्द बनते हैं।[9] पुंल्लिङ्ग तृतीया बहुवचन में लगने वाले 'भिस्' प्रत्यय के स्थान पर ''अतो भिस् ऐस्'' सूत्र की प्रवृत्ति विकल्पित हो जाती है और 'भिस्' का ऐस्[10] नहीं होता जैसे 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' इत्यादि वेदवाक्यों में 'कर्णैः' न बनकर 'कर्णेभिः' का ही प्रयोग किया गया है। दीर्घस्वर के बाद आने वाले 'न्' के ठीक बाद 'अट्' प्रत्याहार का वर्ण हो और ये 'न्' तथा 'अट्' ऋचा के एक ही चरण में स्थित हों तो उस नकार को 'रु' आदेश विकल्प से हो जाता है, फलतः यहाँ 'अनुनासिक' होता है जैसे ''देवाँ अच्छा सुमती'', ''महाँ इन्द्रः'' इत्यादि स्थलों में।[11] 'आङ्' के बाद स्वर आने पर 'आ' को अनुनासिक हो जाता है और वह प्रकृतिभाव को प्राप्त हो जाता है इसलिए उसकी उस स्वर के साथ दीर्घ, गुण या वृद्धि सन्धि नहीं होती जैसे ''अभ्र आँअपः'' में।[12]

इसी प्रकार वैदिक भाषा में ऋचाओं के पादमध्य में आया हुआ 'ए' और 'ओ' ह्रस्व 'अ' के परतः प्रकृतिभाव को प्राप्त हो जाता है फलतः वहाँ ''एङः पदान्तादति''[13] –नियम से होने वाली पूर्वरूप सन्धि नहीं होती। अलबत्ता ऐसा तब होगा जब उस परवर्ती ह्रस्व 'अ' के ठीक बाद में वकार अथवा यकार न हों। जैसे, ''उप प्रयन्तो अध्वरम्'' या ''सुजाते अश्वसूनृते।'' इत्यादि वाक्यों में हुआ है।[14] वैदिक भाषा में गुणसन्धि, वृद्धिसन्धि और सवर्ण दीर्घ सन्धियों को 'प्रश्लिष्ट सन्धि', यण् सन्धि को 'क्षैप्रसन्धि' और पूर्वरूप सन्धि को 'अभिनिहित' सन्धि कहा जाता है।

वैदिक भाषा में नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा और द्वितीया विभक्ति प्रत्यय बहुवचन के प्रत्यय का प्रायः लोप हो जाता है जैसे, ''**या** ते गात्राणाम्'' और ''**ता ता** पिण्डानाम्'' वाक्यों में क्रमशः 'यानि' का 'या' और 'तानि', 'तानि' का 'ता' 'ता' हो गया है।[15] वैदिक भाषा में 'सह' शब्द का 'माद' और 'स्थ' शब्दों के परतः 'सध' आदेश हो जाता है, और इस प्रकार 'सधमाद' और 'सधस्थ' शब्दरूप बनते हैं।[16] इसी प्रकार कभी–कभी ऋचाओं (के संहितापाठ) में तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, त्र और उरुष्याण की दीर्घान्तता हो जाती है जिससे 'यत्र' के स्थान पर 'यत्रा' शब्दरूप बनता है।[17] इसी प्रकार मन्त्रों में दो अचों वाले तिङन्त पदों का भी कभी–कभी दीर्घान्तत्व हो जाता है जैसे 'चक्र' के स्थान पर 'चक्रा' शब्दरूप (संहितापाठ में) देखने को मिलते हैं।[18]

वैदिक भाषा में साधुत्वबोधक 'यत्' प्रत्यय के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ढ' प्रत्यय लगता है, जैसे 'सभायां साधुः' के अर्थ को प्रकट करने के लिए ''सभेयो युवा'' में 'सभ्य' के स्थान पर 'ढ' प्रत्ययान्त सभेय का प्रयोग हुआ है।[19] वैदिक भाषा में 'तुमुन्' प्रत्यय का अर्थ प्रकट करने के लिए से, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन् तवै, तवेङ्, तवेन् इत्यादि प्रत्ययों का भी प्रयोग होता है।[20] उदाहरणार्थ 'जीवसे' धाः इत्यादि। कभी–कभी 'तुमुन्' का अर्थ प्रकट करने के लिए 'तोसुन्' और 'कसुन्' प्रत्ययों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे 'ईश्वरो विचरितोः' और 'ईश्वरो विलिखः' इत्यादि वाक्यों में।[21]

कभी–कभी वैदिक भाषा में 'ह्व' और 'ग्रह्' धातुओं के रूपों में 'ह' के स्थान पर 'भ' हो जाता है जैसे 'गृह्णामि' के स्थान पर 'गृभ्णामि' तथा 'जहार' के स्थान पर 'जभार' देखने को मिलता है।[22] वैदिक भाषा में भूत, वर्तमान और भविष्यत् सभी कालों को प्रकट करने के लिये लुङ्, लङ् और लिट् –– तीनों लकारों का प्रयोग किया गया है, जैसे – ''देवो देवेभिरागमत्'' –– वाक्य में लोट् लकार का अर्थ प्रकट करने के लिए लुङ् का प्रयोग हुआ है।[23] लौकिक संस्कृत में सर्वथा अप्रयुक्त 'लेट्' लकार का भी वैदिक संस्कृत में अनेकधा प्रयोग किया गया है। इसका प्रयोग प्रायः वर्तमान काल, भूतकाल और लिङ्लकार[24] के अर्थों को प्रकट करने के लिए होता है।

वैदिक भाषा में धातुओं के क्रियारूप बनने में लगने वाले 'शप्' आदि विकरणों का कभी–कभी व्यत्यय हो जाता है इसलिए 'भिनत्ति' के स्थान पर 'भेदति', 'म्रियते' के स्थान पर 'मरते' और 'नयतु' के स्थान पर 'नेषतु' इत्यादि क्रियारूप देखने को मिलते हैं।[25]

इसी प्रकार लट्लकार उत्तम पुरुष बहुवचन में 'मस्' के स्थान पर 'मसि' हो जाता है जैसे 'उश्मसि' इत्यादि।[26] लट्लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'त' के स्थान पर 'तात्' हो जाता है जैसे 'कृणुत' के स्थान पर 'कृणुतात्' शब्दरूप बनता है। इन शब्दों के परिवर्तित रूपों के विकल्पों के अतिरिक्त और जाने कितने शब्दरूप परिवर्तनों के विकल्प वैदिक भाषा में देखने को मिलते हैं। इन सब का सुन्दर संग्रह महाभाष्यकार पतञ्जलि ने निम्नलिखित श्लोक में किया है :–

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां, कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छतिशास्त्रकृदेषां, सोऽपि च सिध्यति
बाहुलकेन।।[27]

इस सन्दर्भ में यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक भाषा में शब्दरूपादि के सारे अन्तर विकल्प से ही उपलब्ध हैं।[28] ये नित्य नहीं हैं अर्थात् इन के अतिरिक्त, लौकिक संस्कृत वाले शब्दरूपों का भी वैदिक भाषा में अनेकशः प्रयोग होता रहा है। तात्पर्य यह है कि इन विकल्पित शब्द रूपों का उपयोग वैदिक भाषा को अधिक लचीली और उदारप्रकृतिक ही सिद्ध करता है।

स्वर वैदिक भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है उसमें किया गया 'स्वरों का उपयोग'।[29] स्वरों के द्वारा वैदिक भाषा के शब्दों का अर्थ सर्वथा निश्चित रूप से जाना जा सकता है। ''स्वर्यन्तेऽर्थाःएभिरिति स्वराः''[30] अर्थात् जिनसे सुनिश्चित अर्थ प्रकट होते हैं वे 'स्वर' कहे जाते हैं। व्यञ्जनध्वनियों का उच्चारण अच् ध्वनियों की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता, केवल 'अच्' ध्वनियाँ ही स्वतन्त्र रूप से उच्चारित की जा सकती हैं। इसलिए स्वर, अचों और व्यञ्जनमिश्रित अचों के ही धर्म माने जाते हैं। महाभाष्यकार कहते हैं :–स्वयं राजन्त इति स्वराः।[31] इस प्रकार उच्चारण किये जाने में व्यञ्जनध्वनियाँ पराश्रित या परावलम्बिनी हैं, जब कि अच् ध्वनियाँ स्वाश्रित या स्वतन्त्र होती हैं इसलिये 'अच्' ध्वनियाँ स्वर कही जाती हैं। जब इन ध्वनियों का उच्चारण 'उच्चैः' अर्थात् गात्रोच्चारणपूर्वक होता है तब ये 'उदात्त' और जब 'नीचैः' अर्थात् गात्रशैथिल्यपूर्वक होता है तब ये ''अनुदात्त'' कही जाती हैं। जिस स्वर के उच्चारण में पहले गात्रोच्चारण और बाद में गात्रशैथिल्य – दोनों स्थितियाँ क्रमशः उपस्थित होती हैं, वे समाहारात्मक या मिश्रणात्मक होती हैं और 'स्वरित' कही जाती हैं।[32] ये तीन स्वर प्रधान हैं। 'स्वरित' स्वर के ठीक बाद में आये हुए अनुदात्त स्वर को ही 'प्रचय' कहा जाता है।

स्वराङ्कन में 'प्रचय' स्वरों में कोई चिह्न नहीं लगता। 'उदात्त' स्वर भी सदैव चिह्नरहित ही लिखा जाता है। 'अनुदात्त' स्वरों के नीचे बेंड़ी पाई अर्थात् निम्नवर्ती सीधी रेखा खींच दी जाती है। 'स्वरित' स्वरों के ऊपर खड़ी रेखा खींची जाती है। यह स्वराङ्कनविधि ऋग्वेद की है। अन्यत्र यह विधि परिवर्तित देखी जाती है। 'स्वरित' स्वर के ठीक बाद में 'उदात्त' स्वर होने की स्थिति में, उच्चारण में 'कम्प' अर्थात् कम्पन हो जाता है। इस 'कम्प' को स्वराङ्कन में प्रकट करने के लिए, उस स्वरित स्वर के ह्रस्व होने पर 'अप्स्व 1अन्तः' इत्यादि में कम्पस्थान पर 1 की संख्या लिखकर उसके ऊपर स्वरित चिह्न अर्थात् खड़ी रेखा और नीचे अनुदात्त चिह्न अर्थात् बेंड़ी रेखा खींच दी जाती है। यदि 'कम्प' पैदा करने वाला स्वरित स्वर दीर्घ होता है, तो उस स्वरित के आगे 3 अङ्क लिख कर उसके ऊपर स्वरित का और उसके नीचे पूर्ववत् अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है। एक बात इस दीर्घस्वरित वाले 'कम्प' में यह होती है कि उस स्वरित स्वर वाले वर्ण के नीचे अनुदात्त का चिह्न भी लगाया जाता है जैसे–''क्वे 3 दानीम्'', ''सुप्राव्ये 3 यजमानाय'' इत्यादि वाक्य में किया गया है।

प्रत्येक पद में सामान्यतः एक स्वर अवश्य उदात्त होता है।[33] किसी–किसी पद में उदात्त के स्थान पर एक जात्य स्वरित स्वर अवश्य होता है। उन पदों के अन्य स्वर सामान्यतया अनुदात्त रहते हैं जैसे ''गोपायतं नः।'' इस 'गोपायतम्' पद में 'य' अक्षर का ह्रस्व 'अ' स्वर उदात्त है। शेष सारे स्वर अनुदात्त हैं। उदात्त स्वर के ठीक बाद वाला अनुदात्त स्वर नियमतः स्वरित हो जाता है, इसलिए 'तम्' अक्षर में तकारोत्तरवर्ती 'अ' जो कि पहले अनुदात्त था अब स्वरित हो गया है। उदात्त स्वर के ठीक बाद वाले अनुदात्त को जो स्वरित बनता है, वह 'परतन्त्र स्वरित' कहा जाता है।[34] और जो स्वरित ''तित्स्वरितम्'' आदि सूत्रों के नियम से 'यत्' इत्यादि प्रत्ययों के लगने के कारण नित्यरूप से स्वरित रहते हैं, उन्हें 'स्वतन्त्रस्वरित' या 'जात्यस्वरित' कहा जाता है।

प्रत्येक पद में कम से कम एक उदात्त (अथवा कभी–कभी एक स्वरित) रहने वाले नियम के अपवाद भी हैं। उनमें से कुछ का निर्देश निम्नवत् हैः–

1. 'देवताद्वन्द्व' समासों में जब दोनों पद द्विवचनान्त होते हैं तब उस एक समस्त पद में दो उदात्त होते हैं,[33] जैसे ''मित्रावरुणौ'' में 'त्रा' तथा 'व' दोनों अक्षरों के स्वर उदात्त हैं।
2. अलुक्षष्ठीसमास वाले समस्त पद में भी दो स्वर उदात्त होते हैं[34] जैसे 'बृहस्पतिः' में 'बृ' और 'प' दोनों अक्षरों के स्वर उदात्त हैं।
3. 'च', 'उ', 'वा', 'इव', 'चित्', 'स्वित्' इत्यादि अव्यय पदों में एक भी उदात्त (या जात्यस्वरित) नहीं होता।
4. सम्बोधन के अर्थ में आए हुए, वाक्य के बीच या अन्त में प्रयुक्त शब्दों में एक भी उदात्त नहीं होता।[35] जैसे ''स जनास **इन्द्रः**'', वाक्य में 'जनासः' पद सर्वानुदात्त है।
5. मुख्यवाक्य का क्रियापद, यदि पादादिस्थित न हो या फिर 'यद्' इत्यादि शब्दों के प्रयोग से रहित हो तो उसमें कोई उदात्त स्वर नहीं होता। ऐसे पद जिनमें सर्वानुदात्त की स्थिति आ जाती है, उनमें स्वर का 'निघात' कहा जाता है। वाक्य का अमुख्यक्रियापद स्वरहीन नहीं होता अर्थात् उसमें निघात नहीं होता।[36]
6. किसी पद की द्विरुक्ति होने पर परवर्ती पद में सर्वानुदात्त होता है, जैसे ''दिवे दिवे''।

पद के किस स्वर में उदात्त रहेगा, इस सम्बन्ध में प्रकृतिस्वर प्रत्ययस्वर, समासस्वर आगमस्वर आदि के अनेकानेक नियम पाणिनि की अष्टाध्यायी में विस्तार से दिये गये हैं। वहीं से देखकर इसका निर्णय किया जाना चाहिए।

वैदिक संहिताओं के शुद्ध पाठ को सुरक्षित रखने के लिए मन्त्रों के संहितापाठ के अतिरिक्त पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ, मालापाठ, शिखापाठ, रेखापाठ, ध्वजपाठ, दण्डपाठ और रथपाठ के माध्यमों का विधान किया गया था। इनमें से पदपाठ का महत्त्व और प्रचलन अधिक है। पदपाठ से ही मन्त्रों के पाठ की शुद्धता सुनिश्चित हो जाती है अतः अन्य पाठों का प्रचलन अब बहुत कम हो गया है। 'पदपाठ' में प्रत्येक 'पद' एक अलग स्वतन्त्र इकाई होता है। इसलिए पद के बाद विराम का चिह्न लगाया जाता है। यही कारण है कि संहितापाठ में उपलब्ध सन्धियों का विच्छेद करके पदों को अलग–अलग लिखा जाता है। समस्तपदों को असमस्त करके उनके बीच में अवग्रह का चिह्न (ऽ) लगाया जाता है। दो से अधिक पदों वाले समासों का अन्तिम पद ही अवग्रह चिह्न (ऽ) के द्वारा अलग किया जाता है। इसी प्रकार एक पद के अन्तर्गत भी भ्याम्, भिस् और भ्यस् विभक्तियों को अवग्रह चिह्न के द्वारा अलग कर दिया जाता है। सप्तमी बहुवचन में जहाँ 'सु' विभक्ति का 'षु' नहीं हो जाता और न उसके पूर्व दीर्घस्वर होता है, उसे भी अवग्रह चिह्न द्वारा अलग कर दिया जाता है। क्रियापदों में लगे हुए उपसर्गों को भी अवग्रह चिह्न द्वारा अलग किया जाता है। यदि एक क्रियापद में एक से अधिक उपसर्ग लगे हुए हों तो अवग्रह चिह्न लगाकर केवल प्रथम उपसर्ग को अलग किया जाता है। पदपाठ में प्रगृह्यसंज्ञक ई, ऊ, ए इत्यादि के आगे 'इति' शब्द जोड़ दिया जाता है। संहितापाठ में आए हुए 'उ' के स्थान पर पदपाठ में '¬ इति' लिखा जाता है। 'अकः' इत्यादि क्रियापदों को 'इति' शब्द के साथ जोड़कर पदपाठ में दुहरा दिया जाता है, जैसे ''अकर् इति अकः।''

**वैदिकमन्त्रों के छन्द**

वेद में मात्रिक छन्दों का सर्वथा अभाव है। इसमें केवल थोड़े से वर्णिक छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। इनमें से निम्नलिखित छन्द अत्यधिक प्रसिद्ध एवं प्रयुक्त हैंः–

1. गायत्री छन्द :– प्रत्येक पाद में 8 अक्षर, कुल 3 पाद, कुल 24 वर्ण (या अक्षर)।

2. अनुष्टुप् छन्द :– प्रत्येक पाद में 8 अक्षर, कुल 4 पाद, कुल 32 वर्ण (या अक्षर)।

3. विराट्स्थाना छन्द :– प्रत्येक पाद में 10 अक्षर, कुल 4 पाद, कुल 40 वर्ण (या अक्षर)।

4. त्रिष्टुप् छन्द :– प्रत्येक पाद में 11 अक्षर, कुल 4 पाद, कुल 44 वर्ण (या अक्षर)।

5. जगती छन्द :– प्रत्येक पाद में 12 अक्षर, कुल 4 पाद, कुल 48 वर्ण (या अक्षर)।

वैदिक ऋचाओं में प्रयुक्त होने वाले इन छन्दों में कभी–कभी एक या दो वर्णों की कमी या अधिकता भी देखने को मिलती है। जिन ऋचाओं में इस प्रकार की कमी होती है, उन्हें 'निचृति' और जिनमें इस प्रकार की अधिकता होती है, उन ऋचाओं को 'भुरिक्' कहा जाता है।[37]

**निष्कर्ष**

वैदिक संस्कृत में स्वराङ्कन से ही अर्थावबोध होता था। अर्थावबोध तथा स्वराङ्कन का सम्यग् ज्ञान न होने के कारण प्रायः अर्थ का अनर्थ हो जाता है। उदाहरण के लिए 'इन्द्रशत्रुः' पद लिया जा सकता है जिसमें बहुव्रीहि (इन्द्रः शत्रुः यस्य सः) तथा तत्पुरुष (इन्द्रस्य शत्रुः) दोनों ही समास हैं; किन्तु उसका शुद्ध प्रयोग उचित स्वराङ्कन का ज्ञान होने की स्थिति में ही सम्भव हो सकता है। वेदमन्त्रों को लिपिबद्ध करने की व्यवस्था न होने के कारण ऋषियों ने इस ज्ञान–भाण्डार को अपनी मेधा के माध्यम से स्मृति–पटल में सञ्चित किया था। इसलिए मन्त्रों में अल्पविराम एवं पूर्णविराम के सूचक चिह्नों का अभाव था और स्वराङ्कन से ही अर्थावबोध होता था। इस प्रकार वैदिक संस्कृत भाषागत विविधताओं से परिपूर्ण है।

**सन्दर्भ ग्रंथ सूची**

1. *''छन्दसि परेऽपि''–अष्टा0 1–4–8.*
2. *विश्वेदेवा सूक्त प्रथममन्त्र।*
3. *''चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि''–अष्टा0, 2–3–62 और ''षष्ठ्यर्थे चतुर्थीतिवाच्यम्'' वार्तिक।*
4. *''आज्जसेरसुक्''–अष्टा0, 7–1–50.*
5. *''इष्टवीनमिति च''–अष्टा0, 7–1–48.*
6. *''क्त्वो यक्''–वही, 1–7–47.*
7. *''शीर्षश्छन्दसि''–वही, 6–1–60.*
8. *''सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः''–अष्टा0, 7–1–39.*
9. *''क्त्वापि छन्दसि''–वही, 7–1–38.*
10. *''बहुलं छन्दसि''–वही, 7–1–10.*
11. *''आतोऽटि नित्यम्''–वही, 8–3–3.*
12. *आङोऽनुनासिकश्छन्दसि।''–वही, 6–1–126.*
13. *अष्टाध्यायी, 6–1–109.*
14. *''प्रकृत्या अन्तःपादमव्यपरे''–अष्टा0, 6–1–115.*
15. *''शेश्छन्दसि बहुलम्''–अष्टा0, 6–1–70.*
16. *''सधमादयोश्छन्दसि''–अष्टा0, 6–3–96.*
17. *''ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्''–वही, 6–3–133.*
18. *''द्वयचोऽतस्तिङः''–वही, 6–3–135.*
19. *''ढश्छन्दसि''–वही, 4–4–196.*
20. *अष्टाध्यायी 3–4–9.*
21. *''ईश्वरे तोसुन् कसुनौ''–अष्टा0, 3–4–13.*
22. *ह्वग्रहोर्भश्छन्दसि''–वार्तिकम्।*
23. *''छन्दसि लुङ्लङ्लिटः''–अष्टा0, 3–4–6.*
24. *''लिङर्थे लेट्''–वही, 3–4–36.*
25. *''व्यत्ययो बहुलम्''–वही, 3–1–85.*
26. *''इदन्तोमसि''–वही, 7–1–46.*
27. *द्रष्टव्य–महाभाष्य, 3–1–85.*

28. *''सर्वेविधयश्छन्दसि वैकल्पिका:, तेन 'बहुलंछन्दसि' इत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः''–– सिद्धान्त–कौमुदी, पृ0 581.*
29. *''सर्वेविधयश्छन्दसि वैकल्पिका:, तेन 'बहुलंछन्दसि' इत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः''–– सिद्धान्त–कौमुदी, पृ0 581.*
30. *अमरकोश की सुधा–व्याख्या, 1–6–4.*
31. *महाभाष्य, 1–2–30.*
32. *''उच्चैरुदात्तः''। ''नीचैरनुदात्तः''। ''समाहारः स्वरितः।'' अष्टाध्यायी, 1–2–29, 1–2–30, 1–2–31.*
33. *''अनुदात्तं पदमेकवर्जम्''–अष्टा0, 6–1–158.*
34. *''उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः''–वही, 8–4–66.*
35. *''देवताद्वन्द्वे च''–वही 6–2–वचच141.*
36. *''उभे वनस्पत्यादिषु''–वही, 6–2–140.*
37. *''आमन्त्रितस्य च''–अष्टा0 8–1–19.*
38. *''तिङ्ङतिङः''–वही 8–1–28.*
39. *द्रष्टव्य–ऋक्प्रातिशाख्य 17–2.*